# शिक्षा में हेर-फेर*

जो अत्यावश्यक है उसी में आबद्ध होकर रहना मानव-जीवन का धर्म नहीं है। आवश्यकता की श्रृंखला से हम किसी सीमा तक बद्ध हैं, लेकिन किसी हद तक हम स्वाधीन भी हैं। हमारा शरीर साढ़े-तीन हाथ के फासले में सीमित है, लेकिन उसके लिए साढ़े-तीन हाथ का घर बनाने से काम नहीं चलेगा। चलने-फिरने के लिए यथेष्ट स्थान मिलना ज़रूरी है, वरना हमारे स्वास्थ्य और आनंद दोनों में बाधा पड़ेगी। शिक्षा के विषय में भी यही बात लागू होती है, जो कि कम-से-कम ज़रूरी है वहीं तक यदि शिक्षा को सीमित किया गया तो बच्चों के मन की वृद्धि नहीं हो सकेगी। आवश्यक शिक्षा के साथ स्वाधीन पाठ को मिलाना होगा, अन्यथा बच्चे की चेतना का विकास नहीं होगा-आयु बढ़ने पर भी बुद्धि की दृष्टि से वह सदा बालक ही रहेगा।

लेकिन दुर्भाग्य से हमारे पास समय की कमी होती है। हम चाहते हैं कि जितना शीघ्र हो सके, विदेशी भाषा सीखकर, इम्तेहान पास करके काम में जुट जाएँ। इसलिए बचपन से ही हाँफते-हाँफते, दायें-बायें न देखकर जल्दी-जल्दी सबक याद करने के अलावा और कुछ करने का हमारे पास समय नहीं होता। बच्चों के हाथ में यदि कोई मनोरंजन की पुस्तक दिखाई पड़ी तो वह फौरन छीन ली जाती है।

और फिर मनोरंजन की पुस्तक आये भी कहाँ से? बँगला में इस तरह की किताबें नहीं हैं। रामायण-महाभारत अवश्य हैं, लेकिन बच्चों को बँगला भाषा इस तरह नहीं सिखाई जाती कि वे घर बैठकर अपनी इच्छा से बँगला काव्य का यथार्थ स्वाद ग्रहण कर सकें और बेचारे बालक अंगेज़ी भी इतनी नहीं जानते कि उस भाषा की बालोचित पुस्तकें पढ़ सकें। शिशुओं के लिए लिखी अंग्रेज़ी पुस्तकों में अंग्रेज़ी संस्कृति का वातावरण होता है, उसमें अंग्रेज़ घर की बातें और कौटुम्बिक वार्तालाप होता है, जो हमारे एम.ए. पास पाठकों के लिए भी संपूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं होता।

परिणामस्वरूप, हमारे बंगाल में बच्चों को व्याकरण, शब्दकोश, भूगोल के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता-उनके भाग्य में अन्य पुस्तकें नहीं है। दूसरे देशों के बालक जिस आयु में अपने नये दाँतों से बड़े आनंद से गन्ना चबाते हैं, उसी आयु में हमारे बंगाल के बच्चे स्कूल की बेंच पर धोती की काँछ के साथ अपनी दो दुबली-पतली टाँगों को हिलाते हुए-मास्टर के बेंत हज़्म करते हैं। और बेंत के साथ उन्हें कड़वी गालियों के अलावा दूसरा कोई मसाला भी नहीं मिलता!

इससे उनकी मानसिक पाचन-शक्ति का ह्रास होता है। जिस तरह बंगाल की संतानों का शरीर

---

* *रवींद्रनाथ* के निबंध, अनुवादक-विश्वनाथ नरवणे, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, 1990 से साभार

Bhartiya Adhunik Shiksha - January 2014.indd 5 09-04-2015 AM 11:08:11

उपयुक्त आहार और खेल-कूद के अभाव से कमजोर रह जाता है उसी तरह उनके मन का पाकाशय भी अपरिणत रह जाता है। हम बी.ए., एम.ए. पास करते रहें, पुस्तकों के ढेर-के ढेर निगलते रहें, पर हमारी बौद्धिक शक्ति परिपक्व नहीं होती, किसी चीज़ को हम कसकर पकड़ नहीं पाते, किसी चीज़ की आद्योपांत रचना नहीं कर पाते। हमारे विचार, हमारे आचार-अनुष्ठान, वैसे नहीं हैं, जैसे बालिगों के होने चाहिए। इसीलिए हम अत्युक्ति, आडंबर और आत्मश्लाघा द्वारा अपने मानसिक दैन्य को टाँकने की कोशिश करते हैं।

इसका कारण यही है कि हमारी शिक्षा में बाल्यकाल से ही आनंद के लिए स्थान नहीं होता। जो नितांत आवश्यक है उसी को हम कंठस्थ करते हैं। इससे काम तो किसी-न-किसी तरह चल जाता है, लेकिन हमारा विकास नहीं होता। हवा से पेट नहीं भरता-पेट तो भोजन से ही भरता है। लेकिन भोजन को ठीक से हज़्म करने के लिए हवा आवश्यक है। वैसे ही, एक 'शिक्षा पुस्तक' को अच्छी तरह पचाने के लिए बहुत-सी पाठ्य पुस्तकों की सहायता ज़रूरी है। आनंद के साथ पढ़ते रहने से पठन-शक्ति भी अलक्षित रूप से वृद्धिगत हो जाती है; सहज-स्वाभाविक नियम से ग्रहण-शक्ति, धारणा-शक्ति और चिंता-शक्ति भी सबल होती है। लेकिन मानसिक शक्ति का ह्रास करने वाली इस निरानंद शिक्षा से बंगालियों को कैसे छुटकारा मिलेगा कुछ समझ में नहीं आता।

एक तो अंग्रेज़ी विदेशी भाषा है। शब्द-विन्यास और पद-विन्यास की दृष्टि से हमारी भाषा के साथ उसका कोई सामंजस्य नहीं। तिस पर भावपक्ष और विषय-प्रसंग भी विदेशी होते हैं। शुरू से आखिर तक सभी अपरिचित चीज़ें हैं, इसलिए धारणा उत्पन्न होने से पहले ही हम रटना आरंभ कर देते हैं। फल वही होता है जो बिना चबाये अन्न निगलने से होता है। शायद बच्चों की किसी 'रीडर' में Hay-making का वर्णन है। अंग्रेज़ बालकों के लिए यह एक सुपरिचित चीज़ है और उन्हें इस वर्णन से आनंद मिलता है। Snowball से खेलते हुए Charlie का Katie से कैसे झगड़ा हुआ, यह भी अंग्रेज़ बच्चे के लिए कौतुहलजनक घटना है। लेकिन हमारे बच्चे जब विदेशी भाषा में यह सब पढ़ते हैं तब उनके मन में कोई स्मृति जागृत नहीं होती, उनके सामने कोई चित्र प्रस्तुत नहीं होता। अंधभाव से उनका मन अर्थ को टटोलता रहता है।

नीचे के दर्जों को जो मास्टर पढ़ाते हैं, उनमें से कोई एंट्रेन्स पास है, तो कोई एंट्रेन्स फेल। अंग्रेज़ी भाषा, भाव, विचार, व्यवहार, साहित्य- किसी से वे परिचित नहीं हैं और उन्हीं के हाथों हमारा अंग्रेज़ी के साथ प्रथम परिचय होता है। वे न तो बंगला अच्छी तरह जानते हैं, न अंग्रेज़ी। उन्हें बस यही सुविधा है कि बच्चों को पढ़ाने की तुलना में बच्चों का मन बहलाना बहुत आसान है। इस कार्य में वे पूरी तरह सफल होते हैं।

इन बेचारों को दोष देना भी ठीक न होगा। यदि Horse is a noble animal का अनुवाद किया जाए तो बंगला में भी यह वाक्य ठीक नहीं उतरता और अंग्रेज़ी के विषय में भी हम दुविधा में पड़ जाते हैं। अर्थ को हम कैसे करें? 'घोड़ा एक महान जंतु है', 'घोड़ा एक उच्च श्रेणी का जानवर है', 'घोड़ा एक बहुत ही अच्छा प्राणी है'- इसमें से कोई भी अनुवाद हमें संतुष्ट नहीं

करता। अंग्रेज़ी की हमारी प्रारंभिक शिक्षा में इस तरह की मिलावट का कोई अंत नहीं होता। फलतः, अल्पायु में हम जिस तरह की अंग्रेज़ी सीखते हैं, उसका स्तर इतना सामान्य होता है और वह इतनी गलत होती है कि उसमें से रस निचोड़ना किसी बालक के लिए संभव नहीं होता एवं न ही प्रत्याशित ही होता है। मास्टर और छात्र दोनों कहते हैं- रस से हमारा कोई वास्ता नहीं। खींच-तानकर किसी तरह शब्दों से अर्थ को निकाल लें तो काफी है। परीक्षा में पास हों, दफ़्तर में नौकरी मिले, बस और क्या चाहिए। और जो अर्थ निकाला जाता है, उसके संबंध में शंकराचार्य के शब्द स्मरण ही उठते हैं-

'अर्थमनर्थम् भावय नित्यं
नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।'

अर्थ को अनर्थ समझो-उसमें न सुख है, न सत्य।

तो फिर बच्चों के भाग्य में बाकी क्या रहा? यदि वे बंगला सीखते तो रामायण-महाभारत पढ़ लेते; यदि कुछ भी न सीखते तो उन्हें खेल-कूद के लिए अवकाश मिलता-पेड़ पर चढ़ते, पानी में डुबकियाँ लगाते, फूल तोड़ते, प्रकृति-जननी को हज़ार शरारतों से तंग करते; उनका शरीर पुष्ट और मन प्रफुल्ल होता; उनकी बाल्य प्रकृति को तृप्ति मिलती। लेकिन अंग्रेज़ी पढ़ने के प्रयास में न वे सीखते हैं, न खेलते हैं, प्रकृति के सत्यराज में प्रवेश करने के लिए उन्हें अवकाश नहीं मिलता, साहित्य के कल्पना-राज्य का द्वार उनके लिए अवरुद्ध रहता है। मनुष्य के अंदर और बाहर दो उन्मुक्त विहार-क्षेत्र हैं, जहाँ से वह जीवन, बल और स्वास्थ्य का संचय करता है, जहाँ नाना वर्ण-रूप-गंध, विचित्र गति और संगीत, प्रीति और उल्लास उसे सर्वांगचेतन और विकसित करते हैं। इन दोनों मातृभूमियों से निर्वासित करके अभागे बालकों को एक विदेशी कारागृह में बंद कर दिया जाता है। जिनके लिए ईश्वर ने माता-पिता के हृदय में स्नेह का संचार किया है, जिनके लिए माता की गोद को कोमलता प्रदान की गयी है, जो आकार में छोटे होते हुए भी घर-भर की सारी जगह को अपने को अपने खेल के लिए यथेष्ट नहीं समझते, ऐसे बालकों को अपना बचपन कहाँ काटना पड़ता है? विदेशी भाषा के व्याकरण और शब्दकोश में- जिसमें जीवन नहीं, ऐसी शिक्षा की शुष्क, कठोर, संकीर्णता में। इससे क्या बालक कभी मानसिक शक्ति, चित्त का प्रसार या चरित्र की बलिष्ठता लाभ कर सकता है? क्या वह फीका, रक्तहीन, दुबला और अविकसित नहीं रहेगा? क्या वह बड़ा होने पर अपनी बुद्धि से कुछ निर्माण कर सकेगा, अपनी शक्ति से बाधाओं का अतिक्रमण कर सकेगा, अपने स्वाभाविक तेज से मस्तक उन्नत कर सकेगा? क्या वह केवल रटना, नकल करना और दूसरों की गुलामी करना ही नहीं सीखेगा? जीवन की अवस्थाओं का एक-दूसरे से अविच्छिन्न योग होता है। बाल्यकाल से धीरे-धीरे परिणत होते ही हम यौवन तक पहुँचते हैं। यौवन में सहसा कर्मक्षेत्र में प्रवेश करते ही जो आवश्यक है वह हमें सहज ही मिल नहीं जाता। जीवन के लिए आवश्यक चीज़े हमारे हाथ-पाँव की तरह जीवन के साथ-ही-साथ बढ़ती हैं। वह ऐसी सामग्री नहीं है, जो ज़रूरत पड़ने पर बाज़ार से बनी-बनाई खरीदी जा सके।

चिंतन-शक्ति और कल्पना-शक्ति दोनों जीवन-यात्रा संपन्न करने के लिए अत्यावश्यक

हैं, इसमें संदेह नहीं। यदि हमें वास्तव में मनुष्य होना है तो इन दोनों को जीवन में स्थान देना होगा। इसलिए यदि बाल्यकाल से ही चिंतन और कल्पना पर ध्यान न दिया गया तो काम पड़ने पर उनका अभाव दुखदायी सिद्ध होगा, यह अनुभव बहुत प्राचीन है।

लेकिन हमारी वर्तमान शिक्षा में इन दोनों के लिए रास्ता बंद है। हमें दीर्घकाल तक केवल भाषा-शिक्षा में उलझे रहना पड़ता है। पहले ही कह चुका हूँ कि अंग्रेज़ी हमारे लिए इतनी परकीय है, और हमारे शिक्षकों का उस पर प्रभुत्व इतना कम है कि, भाषा के साथ भाव का प्रवेश हमारे मन में नहीं हो पाता। इसलिए अंग्रेज़ी के भाव से परिचित होने में ही हमें बहुत समय लगता है और तब तक हमारी चिंतन-शक्ति किसी उपयुक्त काम के अभाव से निश्चेष्ट पड़ी रहती है। एंट्रेन्स और फर्स्ट-ईयर आर्ट्स तक केवल काम चलाऊ अंग्रेज़ी हम सीख पाते हैं। फिर सहसा बी.ए. क्लास में बड़ी-बड़ी पुस्तकों और गंभीर चिंतनीय विषयों का हमें सामना करना होता है। उन्हें अच्छी तरह आत्मसात् करने के लिए हमारे पास न समय होता है, न शक्ति। सबको मिलाकर, खिचड़ी पकाकर, हम किसी तरह निगल जाते हैं।

हमारी शिक्षा में पढ़ने की क्रिया के साथ-साथ सोचने की क्रिया नहीं होती। हम ढेर-का-ढेर जमा करते हैं, कुछ निर्माण नहीं करते। ईंट-पत्थर, बालू-चूना पहाड़ की तरह जमा हो जाते हैं, और इसी समय विश्वविद्यालय का हुक्म होता है–'एक तिमंजिला मकान बनाओ!' उपकरणों के स्तूप पर चढ़कर दो साल तक परिश्रम करके हम स्तूप के ऊपर का भाग बड़ी मुश्किल से समतल बना पाते हैं। इब स्तूप का इमारत के आकार से थोड़ा-बहुत सादृश्य उत्पन्न होता है-लेकिन क्या इसे कोई अट्टालिका कहेगा? इसमें हवा और रोशनी के प्रवेश के लिए क्या कोई व्यवस्था है? मनुष्य के स्थायी आवास के लिए क्या यहाँ आश्रय मिल सकता है? क्या बाह्य संसार की गर्मी-सर्दी से यह इमारत हमारी रक्षा कर सकती है? इसमें कोई क्रमबद्धता, कोई सौंदर्य, कोई सुषमा भी है?

माल-मसाला प्रचुर मात्रा में जमा किया गया है जिसमें संदेह नहीं; मानसिक अट्टालिका के निर्माण के लिए इतनी ईंटें पहले हमारे पास नहीं थीं। लेकिन संग्रह करना यदि सीख लें तो निर्माण करना भी सीखा जाता है, यह विचार ही सबसे बड़ी भूल है। वास्तव में संग्रह और निर्माण के कार्य यदि साथ-साथ अग्रसर हों तभी इमारत बनाने का काम संपन्न हो सकता है।

संग्रहणीय वस्तु हाथ आते ही उसका उपयोग जानना, उसका प्रकृत परिचय प्राप्त करना, और जीवन के साथ-ही-साथ जीवन का आश्रयस्थल बनाते जाना-यही है रीतिमय शिक्षा। हमारे देश में यह अजीब परिस्थिति है कि मनुष्य एक दिशा में विकसित हो रहा है तो विद्या किसी और जगह जमा होती जा रही है; एक ओर खाद्य पदार्थों से कोठरी गिरी जा रही है, तो दूसरी ओर पाचन यंत्र अपने ही रस में गला जा रहा है।

इसलिए यदि बच्चों को मनुष्य बनाना है तो यह क्रिया बाल्यकाल से ही आरंभ हो जानी चाहिए, वरना वे सदा बच्चे ही बने रहेंगे। शैशव से ही केवल स्मरण-शक्ति पर बल न देकर उसके साथ-ही-साथ चिंतन-शक्ति और कल्पना-शक्ति को स्वाधीन रूप से परिचालित करने का भी अवसर उन्हें दिया जाना चाहिए। सवेरे से शाम तक केवल हल चलाना और पत्थर तोड़ना, केवल

पिटाई, रटना और इम्तहान- यथेष्ट नहीं है; इससे हम अपने बहुमूल्य खेत में सोने की फसल नहीं उगा सकते।

इस शुष्क धूल के साथ, इस अविरत हल चलाने के साथ, रस का होना भी आवश्यक है। मिट्टी जितनी सरस होती है फसल उतनी ही अच्छी होती है। एक ऐसा समय आता है जब खेत के लिए वृष्टि की सबसे अधिक ज़रूरत है। वह समय यदि निकल जाए तो बाद में हज़ारों बार वर्षा होने से भी उतना लाभ नहीं हो सकता। वयोविकास में भी एक ऐसा विशिष्ट समय आता है जब सजग भावना और नवीन कल्पना जीवन की परिणति के लिए, सरसता-साधन के लिए, अत्यंत आवश्यक होती है। इसी समय यदि साहित्य के आकाश से ज़ोरदार बारिश हो तो फिर क्या कहना-'धन्य राजा पुष्य देश'। अंधकार की मातृभूमि को छोड़कर नवोद्‌भिद् हृदयांकुर विपुल पृथ्वी और अनंत आकाश की ओर सिर उठा रहा है; प्रच्छन्न जन्मगृह के द्वार पर आकर शिशु मन बाह्य संसार से नूतन परिचय प्राप्त कर रहा है; नवीन विस्मय, नवीन प्रीति और कौतूहल का आविर्भाव हो रहा है। ऐसे समय यदि भाव का समीर उसे मिले, आनंदलोक से प्रकाश और आशीर्वाद की धारा उसे स्पर्श करे, तभी उसका जीवन सफल, सरस और परिणत होगा। लेकिन यदि इस समय शुष्क धूल और तपी हुई बालू - नीरस व्याकरण और विदेशी शब्दकोश- उसे आच्छन्न करें, तो बाद में चाहे मूसलाधार वर्षा ही क्यों न हो, यूरोपीय साहित्य के जीवंत सत्य, विचित्र कल्पनाएँ और उन्नत भाव चाहे जितनी मात्रा में उसके दाएँ-बाएँ फैला दिये जाएँ उसकी शिक्षा सफल नहीं होगी। साहित्य की अंतर्निहित जीवन-शक्ति उसके प्राणों में सहज भाव से प्रकाशित नहीं होगी।

हमारी नीरस शिक्षा में जीवन का यही बहुमूल्य समय व्यर्थ हो जाता है। हम बाल्यावस्था से केशोर्य में और केशोर्य से यौवन में शुष्कज्ञान का बोझ लेकर प्रवेश करते हैं। सरस्वती के साम्राज्य में हम मज़दूरी ही करते हैं। हमारी रीढ़ की हड्डी झुक जाती है, मनुष्यत्व का सर्वांगीण विकास नहीं होता। जब अंग्रेज़ी के भावराज्य में हम प्रवेश करते हैं, वहाँ हम स्वच्छंदता से विहार नहीं कर सकते। भावों को हम चाहे समझ भी लें, उन्हें अपने मर्मस्थल पर केंद्रित नहीं कर पाते। वक्तृताओं और निबंधों में चाहे हम उन भावों का प्रयोग करें, जीवन में उनकी परिणति नहीं होती।

इस तरह बीस-बाईस वर्ष की आयु तक हमें जो शिक्षा मिलती है उसका हमारे जीवन से रासायनिक मिश्रण नहीं होता। इससे हमारे मन को एक अजीब आकार मिलता है। शिक्षा से हमें जो विचार और भाव मिलते हैं उनमें से कुछ को तो लेई से जोड़कर हम सुरक्षित रखते हैं, और बचे हुए कालक्रम से झड़ जाते हैं। बर्बर जातियों के लोग शरीर पर रंग लगाकर या शरीर के विभिन्न अंगों को गोदकर, गर्व का अनुभव करते हैं, जिससे उनके स्वाभाविक स्वास्थ्य की उज्जवलता और लावण्य छिप जाते हैं। उसी तरह हम भी अपनी विलायती विद्या का लेप लगाकर दंभ करते हैं, यद्यपि यथार्थ आंतरिक जीवन के साथ उसका योग बहुत ही कम होता है। असभ्य जातियों के राजा सस्ते, विलायती वस्तुओं से विचित्र तरह का विन्यास करते हैं। वे नहीं समझते कि उनका व्यवहार कितना हास्यास्पद होता है। उसी तरह हम भी सस्ते, चमकते हुए, विलायती ज्ञान को लेकर

शान दिखाते हैं, विलायती विचारों का असंगत रूप से प्रयोग करते हैं। हम स्वयं यह नहीं समझते कि अनजाने ही हम कैसे अपूर्व प्रहसन का अभिनय कर रहे हैं। यदि कोई हमारे ऊपर हँसता है तो हम फ़ौरन यूरोपीय इतिहास से बड़े-बड़े उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

बाल्यकाल से ही यदि भाषा-शिक्षा के साथ भाव-शिक्षा की भी व्यवस्था हो और भाव के साथ समस्त जीवन-यात्रा नियमित हो, तभी हमारे जीवन में यथार्थ सामंजस्य स्थापित हो सकता है, हमारा व्यवहार सहज मानवीय व्यवहार हो सकता है और प्रत्येक विषय में उचित परिमाण की रक्षा हो सकती है। हमें यह अच्छी तरह समझना चाहिए कि जिस भाव से हम जीवन-निर्वाह करते हैं उसके अनुकूल हमारी शिक्षा नहीं है। जिस घर में हमें सदा के लिए रहना है उसका उन्नत चित्र हमारी पाठ्यपुस्तकों में नहीं है। जिस समाज के बीच हमें अपना जीवन बिताना है उस समाज का कोई उच्च आदर्श हमें शिक्षा-प्रणाली के साहित्य में नहीं मिलता। उसमें हम अपने माता-पिता, सहृदय-मित्र, भाई-बहन किसी का प्रत्यक्ष चित्रण नहीं देखते। हमारे दैनिक जीवन के क्रियाकलाप को उस साहित्य में स्थान नहीं मिलता। हमारे आकाश और पृथ्वी, निर्मल प्रभात और सुंदर संध्या, परिपूर्ण खेत और देशलक्ष्मी स्रोतस्विनी का संगीत उस साहित्य में ध्वनित नहीं होता। यह सब देखकर हम समझ सकते हैं कि वर्तमान शिक्षा के साथ हमारे जीवन का निबिड़ मिलन होने की कोई स्वभाविक संभावना नहीं है। दोनों के बीच व्यवधान है। हमारी शिक्षा जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर पाती। जहाँ हमारे जीवन-वृक्ष की जड़ें हैं वहाँ से सौ गज दूर हमारी शिक्षा की वर्षा होती है। जो थोड़ा-बहुत पानी हम तक पहुँचता है वह जीवन की शुष्कता दूर करने के लिए यथेष्ट नहीं है। जिस शिक्षा को लेकर हम जीवन व्यतीत करते हैं उसकी उपयुक्तता किसी एक व्यवसाय तक ही सीमित रहती है। जिस संदूक में हम दफ्तर की पोशाक रखते हैं, उसी के अंदर अपनी विद्या को भी बंद कर देते हैं। संपूर्ण जीवन के साथ उसका कोई संबंध नहीं होता। यह वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का स्वाभाविक परिणाम है और इसके लिए छात्रों को दोष देना अन्याय होगा। उनका ग्रंथ-जगत् एक ओर है तो वास्तव जगत दूसरी ओर। इन दोनों के बीच केवल व्याकरण-शब्दकोश का सेतु है। इसलिए हमें इस बात से आश्चर्य नहीं होता कि एक ही व्यक्ति एक ओर योरोपीय दर्शन, विज्ञान और न्याय शास्त्र का पंडित है तो दूसरी ओर सारे कुसंस्कारों का यत्नपूर्वक पोषण करता है; एक ओर स्वाधीनता के उज्जवल आदर्श का प्रचार करता है तो दूसरी ओर अधीनता के शतसहस्त्र तंतुशास्त्र से अपने को और दूसरों को प्रतिक्षण आच्छन्न करता है; एक ओर भाव वैचित्र्यपूर्ण साहित्य का स्वतंत्र रूप से रसोपभोग करता है तो दूसरी ओर जीवन को भाव के उच्च शिखर पर नहीं बल्कि केवल धनोपार्जन और वैषयिक उन्नति के आधार पर स्थापित करता है। विद्या और व्यवहार के बीच एक दुर्भेद्य व्यवधान उत्पन्न हो गया है; दोनों में सुसंलग्नता निर्मित नहीं हो पाती।

परिणाम यह होता है कि दोनों उत्तरोत्तर एक-दूसरे के विरोधी होते जाते हैं। हमारी जो पुस्तकीय विद्या है उसकी विपरीत दिशा में जीवन को निर्देशित करते-करते हमारे मन में उस विद्या के प्रति अविश्वास और अश्रद्धा का जन्म होता

है। हम सोचते हैं कि वह विद्या एक सारहीन और मिथ्या है और समस्त योरोपीय सभ्यता इसी मिथ्या पर आधारित है। जो कुछ हमारा है वह तो सत्य है और जिधर विद्या हमें ले जाती है उधर सभ्यता नामक एक मायाविनी का साम्राज्य है। हम यह नहीं देखते कि विशेष कारणों से हमारे लिए यह शिक्षा निष्फल सिद्ध हुई है; बल्कि हम यह स्थिर करते हैं कि इस विद्या के अंदर स्वभावत: एक वृहत् निष्फलता विद्यमान है। इस तरह जब हम शिक्षा के प्रति अश्रद्धा व्यक्त करते हैं तब शिक्षा भी हमारे जीवन से विमुख हो जाती है। हमारे चरित्र के ऊपर शिक्षा का प्रभाव विस्तृत परिमाण में नहीं पड़ता। शिक्षा और जीवन का आपसी संघर्ष बढ़ता जाता है। वे एक-दूसरे का परिहास करते हैं। असंपूर्ण जीवन और शिक्षा को लेकर बंगालियों की संसार-यात्रा दोनों दिशाओं में एक प्रहसन बन जाती है।

जीवन का तिहाई हिस्सा हम जिस शिक्षा में बिताते हैं वह यदि हमारे संपूर्ण जीवन से असंलग्न हो जाए और किसी अन्य शिक्षा के प्राप्त करने का अवसर हमें न मिले, तो अपने अस्तित्व को सार्थक बनाने का कोई साधन हमारे पास नहीं रह जाता। इसलिए शिक्षा और जीवन में सामंजस्य निर्माण करने की समस्या आज हमारे लिए सर्वप्रधान विचारणीय विषय है।

लेकिन यह सामंजस्य किस शक्ति के द्वारा स्थापित हो सकेगा? बंगला भाषा और बंगला साहित्य के ही द्वारा। जब बंकिम बाबू का 'बंगदर्शन' नव प्रभात की तरह हमारे देश में उदित हुआ उस समय समस्त शिक्षित जगत् में एक अपूर्व आनंद का संचार हुआ था। इसका कारण यह नहीं था कि 'बंगदर्शन' ने किसी ऐसे नूतन तत्त्व को प्रकाशित किया था जो योरोपीय दर्शन, विज्ञान या इतिहास में उपलब्ध नहीं था। 'बंगदर्शन' ने एक ऐसी प्रबल प्रतिभा को जन्म दिया जिससे हमारी अंग्रेज़ी शिक्षा और हमारे अंत:करण के बीच जो व्यवधान था वह दूर हुआ। बहुत दिनों के बाद प्राण के साथ भाव का आनंदमय मिलन हुआ। प्रवासी को घर के भीतर लाया गया और इस उत्सव से घर उज्जवल हुआ। इतने दिनों तक कृष्ण का मथुरा में राजत्व था, बीस-पच्चीस वर्ष तक द्वारपाल की आराधना करने पर कहीं दूर से उनका दर्शन मिलता था, 'बंगदर्शन' ने श्रीकृष्ण को हमारे वृंदावनधाम में पहुँचा दिया। हमारे घर में, समाज में, अंतर में एक नयी ज्योति प्रकाशित हुई। हमने अपने घर की स्त्रियों को सूर्यमुखी और कमलमणि[1] के रूप में देखा। चंद्रशेखर और प्रताप ने बंगाल के पुरुष को एक उच्चतर भावलोक पर प्रतिष्ठित किया। प्रतिदिन के क्षुद्र जीवन में महिमारश्मि का आविर्भाव हुआ।

'बंगदर्शन' से जिस अनुपम आनंद का आस्वाद मिला उसके फलस्वरूप आज शिक्षित लोगों के मन में बंगला भाषा में अपने भाव व्यक्त करने का उत्साह है। वे समझ गए हैं कि अंग्रेज़ी हमारे लिए काम-काज की भाषा है। लेकिन भाव की भाषा नहीं है। उन्होंने प्रत्यक्ष देखा है कि यद्यपि हम बचपन में अत्यंत यत्नपूर्वक अंग्रेज़ी भाषा सीखते हैं फिर भी हमारे देश का वर्तमान स्थायी साहित्य बंगला में ही निर्मित हुआ है। इसका कारण यह है कि अंग्रेज़ी भाषा के साथ हम ऐसे घनिष्ठ आत्मीय भाव से परिचित नहीं हो सकते जिससे साहित्य का स्वाधीन भावोच्छ्‌वास सहज ही प्रकाशित हो सके। अंग्रेज़ी भाषा पर उसका

1. सूर्यमुखी, कमलमणि, चंद्रशेखर, प्रताप-ये सब बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय के उपन्यासों के पात्र हैं।

चाहे जितना प्रभुत्व हो, कोई भी बंगाली उस भाषा में अपना भाव जीवंत रूप से व्यक्त नहीं कर पाता। जो विशेष माधुर्य, जो विशेष स्मृति-संपदा हमें आत्म-प्रकाशन के लिए उत्तेजित करती है, जिन संस्कारों से हमारे मन का विशेष रूप से गठन हुआ है, वे सब विदेशी भाषा में कदापि यथार्थ मुक्तिलाभ नहीं कर सकते।

इसलिए हमारे समाज के शिक्षित लोग जब भी अपने आंतरिक भाव व्यक्त करना चाहते हैं, उन्हें बंगला भाषा का अवलंबन लेना पड़ता है। लेकिन वह अभिमानिनी? इतने दीर्घ समय तक जिसकी अवहेलना की गई है वह क्या अपना सारा सौंदर्य और गौरव लेकर शिक्षाभिमानी पुरुष के सामने आत्मसमर्पण कर देगी? हे सुशिक्षित, हे आर्य, तुम क्या इस सुकुमारी, सुकोमलता यौवना भाषा की यथार्थ मर्यादा जानते हो? इसके कटाक्ष में जो उज्जवल हास्य है जो अश्रुम्लान करुणा है, जो प्रखर तेज है, जो स्नेह-प्रीति-भक्ति है उसका गंभीर मर्म क्या तुमने पहचाना है, अपने हृदय में ग्रहण किया है? तुम सोचते हो-'मैंने मिल, स्पेन्सर पढ़ रखे हैं, कितने इम्तहान पास किये हैं। मैं एक स्वाधीन, चिंतनशील, मेधावी युवक हूँ। कितने हतभागे कन्याभारग्रस्त पितागण अपनी कुमारी कन्याओं को लेकर मेरे द्वार पर खुशामद करते हैं। ऐसा होते हुए अशिक्षित ग्रामीण लोगों के घर की तुच्छ भाषा के लिए यही उचित है कि इशारा पाते ही मेरे सामने आत्मसमर्पण करके अपने को धन्य समझें। मैं जो अंग्रेज़ी पढ़कर बंगला में लिखता हूँ इससे बढ़कर सौभाग्य की बात बंगला के लिए दूसरी क्या हो सकती है? जो यश अंग्रेज़ी भाषा में मुझे अनायास ही मिल सकता है उसका त्याग करके मैं अपने बड़े-बड़े विचार इस दरिद्र्यग्रस्त देश के लिए विसर्जित करता हूँ। जिस तरह जीर्ण वस्त्र, दीन पथिक राजा को देखते ही रास्ता छोड़ देते हैं, उसी तरह मेरे सामने आते ही भाषा की समस्त बाधा-विपत्तियों को झटपट अलग होना चाहिए। देखो तो, मैं तुम्हारे ऊपर कितने उपकार करता आया हूँ। पॉलिटिकल इकॉनोमी के संबंध में तुम लोगों को कुछ बताऊँगा। जीव-राज्य से लेकर जीव और आध्यात्मिक जगत् एक इवोल्यूशन का नियम किस तरह काम करता है इसके बारे में मैंने जो कुछ सीखा है वह भी मैं पूर्णतया गोपन नहीं रखूँगा। अपने ऐतिहासिक और दार्शनिक निबंधों के 'फुटनोटों' में विभिन्न भाषाओं के दुरूह ग्रंथों से संकलित दृष्टांत मैं प्रस्तुत करूँगा। विदेशी साहित्य के कौन-से ग्रंथ के बारे में किस समालोचक ने क्या कहा है यह भी बंगाली पाठक मुझसे जान सकेगा। लेकिन यदि तुम लोगों की यह जीर्णवस्त्रा, अविकसित भाषा मेरा आदेश पाते ही आगे बढ़कर मेरा अभिवादन न करे तो मैं बंगला में नहीं लिखूँगा-मैं वकालत करूँगा, डिप्टी-मजिस्ट्रेट बनूँगा, अंग्रेज़ी समाचार पत्रों के 'लीडर' लिखूँगा। इससे तुम्हारी जो क्षति होगी उसकी कोई सीमा है?'

बंगदेश के परम दुर्भाग्य से उसकी यह लज्जाशील, तेजस्विनी, नंदिनी बंगभाषा ऐसे 'अच्छे लड़कों' का समुचित आदर नहीं करती-और अच्छे लड़के भी नाराज़ होकर बंगला भाषा के साथ संपर्क नहीं रखते-यहाँ तक कि बंगला में पत्र-व्यवहार तक नहीं करते, मित्रों से मिलने पर यथासंभव बंगला में बात-चीत नहीं करते, बंगला पुस्तकों को उपेक्षापूर्वक घर में बंद करके रखते हैं। इसको कहते हैं छोटे पाप का भारी दंड।

पहले ही कह चुका हूँ, हमारे बाल्यकाल की शिक्षा में भाषा के साथ भाव नहीं होता और जब बड़े होते हैं तो परिस्थिति इसके ठीक विपरीत हो जाती है-अब भाव होते हैं, लेकिन उपयुक्त भाषा नहीं होती। इस बात का भी पहले उल्लेख कर चुका हूँ कि भाषा शिक्षा के साथ-साथ भाव-शिक्षा की वृद्धि न होने से योरोपीय विचारों से हमारा यथार्थ संसर्ग नहीं होता, और इसलिए आजकल बहुत-से शिक्षित लोग योरोपीय विचारों के प्रति अनादर व्यक्त करने लगे हैं। दूसरी ओर, जिन लोगों के विचारों से मातृभाषा का दृढ़ संबंध नहीं होता वे अपनी भाषा से दूर हो जाते हैं और उसके प्रति उनके मन में अवज्ञा की भावना उत्पन्न होती है। बंगला भाषा का उन्हें ज्ञान नहीं होता, लेकिन इस बात को वे स्वीकार नहीं करते और कहते हैं— 'बंगला में कोई गंभीर विचार कैसे व्यक्त किया जा सकता है? यह भाषा हमारे-जैसे शिक्षित लोगों के लिए उपयुक्त नहीं है।' जब अंगूर हमारी पहुँच के बाहर होते हैं तब हम उन्हें खट्टा कहकर अपना समाधान करते हैं।

हम चाहे जिस दिशा से देखें, हमारी भाषा, जीवन और विचारों का सामंजस्य दूर हो गया है। हमारा व्यक्तित्व विछिन्न होकर निष्फल हो रहा है; वह अपने बीच कोई अखंड ऐक्य उपलब्ध करके बलिष्ठ नहीं हो पाता, जिन चीज़ों की उन्हें ज़रूरत है वे उसके पास नहीं हैं। एक निर्धन आदमी जाड़े के दिनों में रोज भीख माँगकर गरम कपड़ा बनाने के लिए धन संचय करता, लेकिन यथेष्ट धन जमा होने तक जाड़ा बीत जाता। उसी तरह जब तक वह गर्मी के लिए उचित व्यवस्था कर पाता तब तक गर्मी भी बीत जाती। एक दिन जब देवता ने उस पर तरस खाकर उसे वर माँगने के लिए कहा तो वह बोला—'मेरे जीवन का यह हेर-फेर दूर करो, मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मैं जीवन-भर गर्मी में गरम कपड़े और सर्दी में ठंडे कपड़े प्राप्त करता रहा हूँ। इस परिस्थिति में संशोधन करके दो-बस, मेरा जीवन सार्थक होगा।'

हमारी प्रार्थना भी यही है। हेर-फेर दूर होने से ही हमारा जीवन सार्थक होगा। हम सर्दी में गरम कपड़े और गर्मी में ठंडे कपड़े जमा नहीं कर पाते तभी हमारा इतना दैन्य है-वरना हमारे पास है सब-कुछ। हम विधाता से यही वर माँगते हैं-हमें क्षुधा के साथ अन्न, शीत के साथ वस्त्र, भाव के साथ भाषा और शिक्षा के साथ जीवन प्राप्त करने दो। हमारी दशा तो वैसी ही है कि—

पानी में मीन पियासी
सुनत-सुनत लागे हासी।

हमारे पास पानी भी है और प्यास भी है। देखकर पृथ्वी के लोग हँसते हैं। आँखों से आँसू टपकते हैं, लेकिन हम प्यास नहीं बुझा पाते।

*[नवंबर, 1892 में राजशाही (अब पूर्वी पाकिस्तान के अंतर्गत) में लोकेश पालित के साथ रहते समय राजशाही ऐसोसिएशन के अनुरोध पर लिखित प्रबंध।*

*'साधना' (पौष 1299, बं.सं.) दिसंबर, 1892 में प्रकाशित। जस्टिस और गुरुदास बनर्जी, वाइस चांसलर, कलकत्ता विश्वविद्यालय, बंकिमचंद्र तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा यह विशेष रूप से प्रशंसित किया गया। नवंबर 1908 में 'शिक्षा' पुस्तक में समाविष्ट।]*